शोध मंथन, Impact Factor 5.463 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X,
192 Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com/* https://doi.org/10.31995/shodhmanthan

प्राचीन भारत मे मौर्य प्रशासन की प्रासंगिकता

डॉ. भूकन सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग
एस.डी.(पी.जी.) कॉलेज, गाजियाबाद

सारांश

प्राचीन काल के इतिहास में हम देखते है कि मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत ही हमें प्रशासनिक व्यवस्था का स्वरूप एक केंद्रीकृत ढांचे के अधीन दिखाई देता है। चंद्रगुप्त मौर्य ने इसी प्रशासनिक तंत्र से अपने विशाल साम्राज्य को एक मजबूत आधार प्रदान किया था और उस पर कुशलतापूर्वक शासन करने में सफल रहा।

भारत के इतिहास में मौर्यकाल का एक विशिष्ट स्थान है। मौर्य के आगमन से भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में एक युग का अन्त और दूसरे युग का आरम्भ होता है। प्राचीन भारत के इतिहास में मौर्य वंश प्रथम ऐतिहासिक वंश है। वी. ए. स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि मौर्य वंश के आरम्भ से प्राचीन भारत का इतिहास अन्धकार से प्रकाश में आ जाता है।[1] भारतीय सभ्यता के इतिहास मे प्रथम वृहद् एवं संगठित राजतन्त्रत्मक सम्राज्य मौर्ययुगीन राज्य (320 ई. पू.–185 ई. पू.) को कहा जा सकता है। मौर्ययुगीन साम्राज्यवादी व्यवस्था भारतीय राजनीतिक इतिहास की एक नवीन विशिष्टता थी। मौर्य राज्य की प्रकृति एवम् प्रशासनिक व्यवस्था के मूल सिद्धांत को समझने के लिए हमें उसके कुछ व्यवहारों को आत्मसात करने की आवश्यकता होती है। चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा विजित व प्रशासित राज्य एक वृहद साम्राज्य था जिसकी सीमांए उत्तर में फारस से सुदूर दक्षिण तक फैली थीं। स्वयं अशोक के शिलालेखों में उसकी विशाल विजित पृथ्वी की सीमाएं दक्षिण में चोल, पाण्ड्या, सतियपुत्र, केरलपुत्र तथा ताम्रपर्णी अर्थात श्रीलंका तक और उत्तर में यवन राज्यों तक उल्लिखित हैं। लेकिन मौर्य राज्य के विषय में पर्याप्त जानकारी कौटिल्य के अर्थशास्त्र, से मिलती है।[2]

वस्तुतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र का ऐतिहासिक महत्व इस दृष्टि से और बढ़ जाता है कि वे प्रथम मौर्य शासक चंद्रगुप्त के प्रधानमंत्री, राजगुरू व राजनीतिक सलाहकार भी थे। उनका यह राजनीतिक अनुभव अर्थशास्त्र में उल्लिखित प्रशासनिक तंत्र की सूक्ष्म व व्यवहारिक जटिलताओं के विस्तृत विवरण में भी प्रतिबिंबित है। साथ ही सूनानी स्रोतो द्वारा दिये गये विवरण व अशोक के शिलालेखों में उल्लिखित प्रशासनिक व्यवस्था का विश्लेषण करने पर मौर्ययुगीन राज्य के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

मौर्य काल से पूर्व भारत जनपदों, महाजनपदों व गणराज्यों में विभाजित था जिन्हें जीत कर ही मौर्य शासकों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया। इस साम्राज्य–निमार्ण व विस्तार का केंद्र बिंदु राजा था। जिसने सेना, कोश, दुर्ग आदि की व्यवस्था कर अपनी शक्ति का

विस्तार किया था। अतः उसमें राज्य की केंद्रीभूत शक्ति संकेद्रित थी। यह तथ्य प्रथम मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त के प्रधानमंत्री कौटिल्य द्वारा दी गई इस अवधारण में प्रदर्शित है कि 'राजा राज्य है,' यही संक्षेप में उसकी प्रकृति है। इस वर्णन से यह भी संकेत मिलता है कि प्राचीन काल में वर्णित राज्य के सात तत्वों में राजा सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व बन कर उभरा। मौर्य–काल में राज्य का सप्तांग सिद्धांत कौटिल्य के दर्शन में पूर्णतः प्रतिफलित हुआ।[3] इन सात अंगों में स्वामी, अमात्य, ज़नपद, दुर्ग, कोश, दंड, और मित्र थे। कौटिल्य ने सातों अंगों की महत्ता तथा प्रत्येक के अनिवार्य गुणों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। इनमें से स्वामी का केंद्रीय अथवा सर्वोच्च स्थान माना गया। कौटिल्य द्वारा वर्णित राजा की शक्ति अथवा स्थिति से भी यह स्पश्ट होता है कि संपूर्ण शासन–व्यवस्था राजा के आसपास घूमती थी, वह प्रभुसत्ता का नैतिक व कानूनी मूर्त रूप था, वह मुख्य कार्यपालिका अध्यक्ष था, वही सेना का अध्यक्ष था, राज्य का प्रशासन पूर्णतः उसके विवेक पर निर्भर करता था और न्यायिक प्रशासन के क्षेत्र में भी सर्वोच्च अधिकारी वही था। कौटिल्य के अनुसार 'मंत्री, पुरोहित आदि भृत्य वर्ग की और शासन के विविध अध्यक्षों व अमात्यों की नियुक्ति राजा ही करता है, यदि राज पुरूषों, कोष तथा जनता पर कोई विपत्ति आए तो उसका प्रतिकार भी राजा द्वारा ही किया जाना चाहिए। इन सब की उन्नति भी राजा के हाथों में होती है। यदि राजा संपन्न होगा, तो उसकी प्रजा उसकी समृद्धि द्वारा संपन्न होगी, राजा का जो शील (चरित्र) होगा, वही प्रजा का भी होगा। यदि राजा उद्यमी तथा उत्थानशील होगा तो प्रजा भी उत्थानशील होगी और यदि राजा प्रमादी (आलसी) होगा तो प्रजा भी प्रमादी होगी। इस प्रकार राज्य में राजा ही कूटस्थानीय (केंद्रीय सत्ता) है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा के कर्तव्यों का आभास कराते हुए लिखा है कि राजा का प्रथम कर्तव्य प्रजा को प्रसन्न रखना है और जो राजा ऐसा कर पाता है, उसे न तप करने की आवश्यकता है और न यज्ञ करने की।[4] प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए आवश्यक है कि राजा चोरों, बेईमान व्यापारियों, डकैतों, हत्यारों भ्रष्ट कर्मचारियों, असामाजिक तत्वों, तथा अग्नि, जल, बीमारी, दुर्भिक्ष, चूहे, व्याघ्र, सांप और राक्षसों से प्रजा की रक्षा कर, दुष्टों का दमन करें, अपराधियों को दंड दे, बाह्य आक्रमणों से बचाव करे, राज्य की सीमाओं का विस्तार करे, सेना का संगठन करे, अस्त्र–शस्त्रें का समुचित भंडार रखें, धर्म की स्थापना व रक्षा करे, प्रजा से स्वधर्म का पालन कराए, अनाथ और असहाय प्रजाजनों का भरण पोषण करे, निर्बलों की सहायता करे, कृषि के विकास के लिए बांधों का निर्माण करे,, निर्बलों की सहायता करें, शिक्षा व कला का विकास करे, राज्य में शांति और व्यवस्था बनाए रखें, कानूनों का पालन करवाए; न्यायालयों की स्थापना करे व न्याय प्रदान करे, लोकहित में ऊपर लिखित कर्तव्यों के संपादन के लिए कर संग्रह करे व उन करों को जन–कल्याण पर ही व्यय कर, प्रजा की आर्थिक समृद्धि हेतु कृषि, उद्योग तथा व्यापार को प्रोत्साहन दे; तथा निरंतर क्रियाशील रहते हुए प्रजा के योग–क्षेम की व्यवस्था करे। कौटिल्य के वर्णन तथा अशोक के अभिलेखों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होकर उभरती है कि परम शक्तिशाली होते हुए भी मौर्ययुगीन राजा प्रजा–वत्सल था।[5] प्रायः राजा देर रात तक प्रजा के कार्यों मे व्यस्त रहता था। जिनका मूल मंत्र प्रजा का हित था जो राजा एक पिता की तरह पूर्ण करने का प्रयास करता था। अशोक के अनुसार भी,

"सब जन मेरे बच्चों की तरह हैं ओर उनके पिता के समान ही मैं उनके लिए इस विश्व में और अगले विश्व में भी संपूर्ण प्रसन्नता की कामना करता हूँ।"

मौय काल में प्रथम बार राजा विधि व न्याय का स्त्रेत बन कर उभरा। कौटिल्य के अनुसार 'शास्त्र' व 'न्याय' अथवा विवेक में संघर्ष की स्थिति में विवेक को प्राथमिकता दी जानी चाहिए क्योंकि शास्त्र समय बीतने के साथ भ्रष्ट अथवा निरर्थक हो सकते हैं। उनका निहितार्थ यह भी निकलता है कि 'राजाज्ञा' सर्वोच्च है और धर्म, सामाजिक व्यवहार और निजी समझौतों के साथ संघर्ष की स्थिति में राजाज्ञा को प्राथमिकता दिया जाना आवश्यक है। इस युग में राजा के कुछ विशेषाधिकार भी स्पष्ट किए गए यथा यद्यपि राज दंडधारी है, वह स्वयं अदंडय है अर्थात वह अन्य किसी के अधीन नहीं था, वह करों से मुक्त था, उत्तराधिकर के अभाव में संपत्ति पर उसका अधिकार था; पृथ्वी में गड़े धन पर राजा का अधिकार था, उसे न्यायालय में साक्षी के रूप में नहीं बुलाया जा सकता था इत्यादि। इसी आधार पर कुछ इतिहासकार यह निष्कर्ष भी निकालते है कि मौर्य काल में प्रथम बार राज्य व राजनीति एक सीमा तक धर्म पर हावी हुए।[6] परंतु मौर्य युगीन राजा केंद्रीय सत्ता युक्त होने के बावजूद स्वेच्छाचारी नहीं था। कौटिल्य के अनुसार राजा की सत्ता की सीमाएं थीं। वह राज्य के आधारभूत कानून और संस्थाओं से ऊपर नहीं था और उसके लिए व्यक्तियों के स्वधर्म, आचार और नैतिकता के परंपरागत नियमों को वर्णाश्रम धर्म को बनाए रखना आवश्यक था। राजा के लिए स्वयं भी एक आदर्श व्यक्तित्व का स्वामी होना आवश्यक था। कौटिल्य के अनुसार राजा को धैर्य संपन्न, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, उच्चाभिलाशी, दृढ़–प्रतिज्ञ, अति उत्साही, शास्त्र व बुद्धि से युक्त, ओजस्वी व वीर होना चाहिए। यह मानते हुए कि ये गुण स्वाभाविक तौर पर सुगमता से उपलब्ध नहीं हो सकते, कौटिल्य का तर्क है कि उचित शिक्षा द्वारा राजा में ऐसे गुण उत्पन्न किए जा सकते हैं ताकि वह अपनी प्रजा को सुदृढ़ शासन प्रदान करने में सफल हो और लंबे समय तक पृथ्वी पर निर्बाध शासन कर सके। प्रजा के प्रकोप को अन्य सब कोपों से भयंकर मानते हुए कौटिल्य राजा के लिए यह आदर्श भी रखते हैं कि 'वह प्रजा के सुख में सुख और प्रजा के हित में ही अपना हित समझे तथा अपने आपको प्रिय लगने वाला कार्य न करके प्रजा को प्रिय लगने वाला कार्य ही करे।' मौर्य–काल से पूर्व नंदों का अलोकप्रिय शासन प्रजा के असहयोग से ही समाप्त हुआ। यह बात मौर्य शासक नहीं भूले और इसलिए प्रजाहित को उन्होने कभी गौण स्थान नहीं दिया। सम्राट अशोक ने तो अपने अभिलेखों में यह अंकित करवा दिया था कि प्रजा के दुःख सुख की सूचना उसे तत्काल दी जाए, चाहे वह किसी भी स्थिति मे क्यों न हो। मौर्यकालीन राज्य का विकसित व जनहितकारी स्वरूप तत्कालीन राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यो में स्पष्टतः प्रतिबिंबित है। अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि एक वृहद प्रशासनिक तत्रं के साथ मौर्ययुगीन राज्य अनेक सार्वजनिक कल्याण के कार्य करता था यथा सड़के बनवाना, कुएं खुदवाना, विश्रामगृह बनवाना, कृषि सुविधाएँ उपलब्ध करवाना, चिकित्सकीय वृक्ष लगवाना तथा इन सब का रख–रखाव इत्यादि।[8] ये कार्य राजकीय कोष में से ही किए जाते थे जिसका अधिकारी सन्निधाता' कहलाता था जो मुख्य शुल्क अधिकारी 'समाहर्ता' के साथ मिल कर राज्य के कोष, आय और व्यय की देख रेख भी करता था। ये अनेक कार्मिकों और लेखकों की सहायता

से राज्य के आय–व्यय का लेखा रखते थे। एक वृहद आर्थिक प्रशासन तंत्र तथा विकसित अर्थव्यवस्था का प्रमाण मौर्य काल में प्रयुक्त वह विविधतायुक्त शब्दावली है जो राज्य की कराधान क्षमता की द्योतक थी। प्रमुख करों में कर, विष्टि (बलात श्रम), प्रणय (आपातकालीन शुल्क), उपरिकर (अतिरिक्त उपकर), उद्रंग (सब किराएदारों पर अतिरिक्त शुल्क), हिरण्य (कुछ फसलों के उत्पादन पर राजा को दिया जाने वाल नकद कर), वातभूत (अनुष्ठानों/आयोजनों के लिए एकत्र किए जाने वाले विभिन्न उपकर), हलिकर (हल–कर), शुल्क (व्यापारियों द्वारा शहर अथवा बंदरगाह पर लाए गए सामान पर कर), भाग (उत्पाद का राजकीय भाग), बलि (भू–कर), प्रशुल्क, उद्क भाग (जल–कर) लवण भाग (नमक–कर) वर्तनि (पथ–कर), द्वारादेय (चुंगी), सीमाशुल्क इत्यादि थे।

कौटिल्य का दृढ़ मत था कि राजस्व (प्रभुता) बिना सहायता के संभव नहीं है, अतः राजा के सचिवों की नियुक्ति करनी चाहिए तथा उनसे मंत्रणा लेनी चाहिए। राज्य के सर्वोच्च अधिकारी मंत्री कहलाते थे। इनकी संख्या तीन या चार होती थी। इनका चयन अमात्य वर्ग से होता था (अमात्य शासनतंत्र के उच्च अधिकारियों का वर्ग था) राजा द्वारा मुख्यमंत्री तथा पुरोहित का चुनाव उनके चरित्र की भलीभाँति जाँच के बाद किया जाता था। इस क्रिया को उपधा परीक्षण कहा गया है (उपधा शुद्धम्)।[9] ये मंत्री एक प्रकार से अंतरंग मंत्रिमंडल के सदस्य थे। राज्य के सभी कार्यो पर इस अंतरंग मंत्रिमंडल में विचार–विमर्ष होता था और उनके निर्णय के पश्चात ही कार्यारंभ होता था।

मंत्रिमंडल के अतिरिक्त एक मंत्रिपरिषद भी होती थी अशोक के शिलालेखों में परिषद का उल्लेख है। राजा बहुमत के निर्णय के अनुसार कार्य करता था। जहाँ तक मंत्रियों तथा मंत्रिपरिषद के अधिकार का प्रश्न है, उनका मुख्य कार्य राजा को परामर्श देना था। वे राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण रखते थे किंतु मंत्रियों का प्रभाव बहुत–कुछ उनकी योग्यता तथा कर्मठता पर निर्भर करता था। अशोक के छठे शिलालेख से अनुमान लगता है कि परिषद् राज्य की नीतियों अथवा राजाज्ञाओं पर विचार–विमर्ष करती थी और यदि आवश्यक समझती थी तो उनमें संशोधन का सुझाव देती थी। यह राजा के हित में था कि वह मंत्री या मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के परामर्श से लाभ उठाए किंतु किसी नीति या कार्य के विषय में अंतिम निर्णय राजा के ही हाथ में था।

शासनकार्य का भार मुख्यतः एक विशाल अधिकारीवर्ग पर था जो साम्राज्य के विभिन्न भागों से शासन का संचालन करते थें। अर्थशास्त्र में सबसे ऊँचे स्तर के कर्मचारियों को 'तीर्थ' कहा गया है। ऐसे अठारह तीर्थों का उल्लेख है इनमें से कुछ महत्वपूर्ण पदाधिकारी थे–मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, समाहर्ता, सन्निधाता तथा मंत्रिपरिषदाध्यक्ष। तीर्थ शब्द एक–दो स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। अधिकतर स्थलों पर इन्हें महामात्र की संज्ञा दी गई है।

सबसे महत्त्वपूर्ण तीर्थ या महामात्र मंत्री और पुरोहित थे। राजा इन्ही के परामर्श से अन्य मंत्रियों तथा अमात्यों की नियुक्ति करता था। राज्य के सभी अधिकरणों पर मंत्री और पुरोहित का नियंत्रण रहता था। सेनापति सेना का प्रधान होता था। ज्येष्ठपुत्र युवराज पद पर विधिवत

अभिशिक्त होता था। शासन कार्य में शिक्षा देने के लिए उसे किसी जिम्मेदार पद पर नियुक्त किया जाता था। बिदुसार के काल में अशोक मालवा प्रदेश का प्रशासक था और उसे विद्रोहों को दबाने या विजयाभियान के लिय भेजा जाता था। राजस्व एकत्र करना, आय–व्यय का ब्यौरा रखना तथा वार्षिक बजट तैयार करना समाहर्ता के कार्य थे। देहाती क्षेत्र की शासन–व्यवस्था भी उसी के अधीन थी। शासन की दृष्टि से देश को छोटी–छोटी इकाइयों में विभक्त किया जाता था और स्थानिक, गोप, प्रदेष्टा इत्यादि की सहायता से शासनकार्य चलाया जाता था।[10] इन्हीं अधिकारियों की सहायता से वह जनगणना, गाँवों की कृषियोग्य भूमि, लोगों के व्यवसाय, आय–व्यय, तथा प्रत्येक परिवार से मिलने वाले कर की मात्र की जानकारी रखता था, यह जानकारी वार्षिक आय–व्यय का बजट करने के लिए आवश्यक थी। गुप्तचरों द्वारा वह देशी तथा विदेशी लोगों की गतिविधियों की पूरी जानकारी रखता था, जो कि सुरक्षा के लिए आवश्यक थी। प्रदेष्टा अथवा प्रादेशिकों, स्थानिकों और गोप की सहायता से वह चोरी डकैती तथा हिंसा करने वाले अपराधियों को दंडित करता था। इस प्रकार समाहर्ता एक प्रकार से आधुनिक वित्त मंत्री और गृहमंत्री के कर्तव्यों को पूरा करता था। सन्निधाता एक प्रकार से कोषाध्यक्ष था। उसका काम था साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में कोषगृह ओर कोष्ठागार बनवाना और नकद तथा अन्य के रूप में प्राप्त होने वाले राजस्व की रक्षा करना।

अर्थशास्त्र के 'अध्यक्ष प्रचार' अध्याय में 26 अध्यक्षों का उल्लेख है। ये विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे और मंत्रियों के निरीक्षण में काम करते थे। कतिपय अध्यक्ष इस प्रकार थे– कोषाध्यक्ष, सीताध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, बन्धनगाराध्यक्ष, संस्थाध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष आदि। इन अध्यक्षों के कार्य–विस्तार के अध्ययन से ज्ञात होता है कि राज्य देश के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन और कार्य–विधि पर पूरा नियंत्रण रखता था। शासन के कई विभागों के अध्यक्ष, मंडल की सहायता से कार्य करते थे, जिनकी ओर मेगस्थनीज का ध्यान भी आकृष्ट हुआ। केन्द्रीय महामात्य (महामात्र) तथा अध्यक्षों के अधीन अनेक निम्न स्तर के कर्मचारी होते थे जिन्हें 'युक्त' और 'उपयुक्त' संज्ञा दी गई है। अशोक के शिलालेखों में 'युक्त' का उल्लेख है।[11] इन कर्मचारियों के माध्यम से केंद्र और स्थानीय शासन के बीच संपर्क बना रहता था।

केंद्रीय शासन का एक महत्त्वपूर्ण विभाग सेना विभाग था। यूनानी लेखकों के अनुसार चंद्रगुप्त के सेना विभाग में 600000 पैदल, 55000 अश्व, 9000 हाथी तथा 4000 रथों की एक स्थाई सेना थी। इसकी देख–रेख के लिए पृथक सैन्य विभाग था। इस विभाग का संगठन 6 समितियों के हाथ में था। प्रत्येक समिति में पाँच सदस्य होते थे। समितियाँ सेना के पाँच विभागों की देख–रेख करती थीं–पैदल, अश्व, हाथी, रथ तथा नौसेना। सेना के यातायात तथा युद्ध सामग्री की व्यवस्था एक समिति करती थी। सेनापति सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। सीमांतों की रक्षा के लिए मजबूत दुर्ग थे जहाँ सेना अंतपाल की देख रेख में सीमाओं की रक्षा में तत्पर रहती थी।

सम्राट न्याय प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी होता था। मौर्य सामाज्य में न्याय के लिए अनेक न्यायालय थे। सबसे नीचे ग्राम स्तर पर ग्राम न्यायालय थे जहाँ ग्रामणी कतिपय मामलों

में अपना निर्णय देते थे तथा अपराधियों से जुर्माना वसूल करते थे। ग्राम न्यायालय से ऊपर संग्रहण, द्रोणमुख, स्थानीय और जनपद स्तर के न्यायालय होते थे। इन सबसे ऊपर पाटिलपुत्र का केन्द्रीय न्यायालय था। यूनानी लेखकों ने ऐसे न्यायाधीशों की भी चर्चा की है जो भारत में रहने वाले विदेशियों के मामलों पर विचार करते थे। ग्रामसंघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायालय दो प्रकार के थे–धर्मस्थीय और कंटकशोधन। धर्मस्थीय न्यायलयों का न्याय–निर्णय, धर्मशास्त्र में निपुण तीन धर्मस्थ या व्यावहारिक तथा तीन अमात्य करते थे। इन्हें एक प्रकार से दीवानी अदालतें कह सकते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार धर्मस्थ न्यायालय वे न्यायालय थे जो व्यक्तियों के पारस्परिक विवाद के संबंध में निर्णय देते थे। कंटकशोधन न्यायालय में न्यायाधीश तीन प्रदेष्ट तथा तीन अमात्य होते थे और राज्य तथा व्यक्ति के बीच के विवाद इनके न्याय के विषय थे। इन्हे हम एक तरह से फौजदारी अदालत कह सकते हैं।

किंतु इन दोनों के बीच के भेद इतना स्पष्ट नहीं था। अवश्य ही धर्मस्थीय अदालतों में अधिकांश वाद–विषय विवाह, स्त्रीधन, तलाक, दाय, घर, खेत, सेतुबंध, जलाशय सम्बंधी विवाद, ऋण संबंधी विवाद, मृत्य, कर्मकर और स्वामी के बीच विवाद, क्रय–विक्रय सम्बंधी झगड़े से सम्बंधित थे।[12] किंतु चोरी, डाके ओर लूट के मामले धर्मस्थीय अदालत के सामने पेश किए जाते थे जिसे 'साहस' कहा गया है। इसी प्रकार कुवचन बोलना, मानहानि और मारपीट के मामले भी धर्मस्थीय अदालत के सामने प्रस्तुत किए जाते थे। इन्हे 'वाक् पारूष्य' तथा 'दंड' पारूष्य कहा गया है। किंतु समाज–विरोधी तत्वों को समुचित दंड देने का कार्य मुख्यतः कंटकशोधन न्यायलयों का था। प्रो0 नीलकंठ शास्त्री के अनुसार कंटकशोधन न्यायालय एक नए प्रकार के न्यायालय थे जो मौर्य साम्राज्य की अधिकाधिक जटिल सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाए गए थे ताकि एक अत्यंत संगठित शासन तंत्र के विविध विषयों से संबद्ध निर्णयों को कार्यान्वित किया जा सके। वे एक प्रकार के विशेश न्यायालय थे जहाँ अभियोगों पर तुरंत विचार किया जाता था।

मौर्य शासन प्रबंध में गूढ़ पुरूषों (गुप्तचरों) का महत्वपूर्ण स्थान था। इतने विशाल साम्राज्य के सुशासन के लिए यह आवश्यक था कि उसके अमात्यों, मंत्रियों, राजकर्मचारियों और अन्य जनपदों पर दृष्टि रखी जाय, उनकी गतिविधि और मनोभावनाओं का परिज्ञान प्राप्त किया जाय और पड़ौसी राज्यों के विषय में भी सारी जानकारी प्राप्त होती रहे। इस कार्य के संपादन के लिये अत्यंत कुशल गुप्तचरों का एक पृथक विभाग बनाया गया था। दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख प्राप्त होता है : संस्था और संचरा। संस्था वे गुप्तचर थे जो एक ही स्थान पर संस्थाओं में संगठित होकर कापटिकक्षात्र, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक (व्यापारी), तापस (सिर मुंडाए या जटाधारी साधु) के वेश में काम करते थे। इन संस्थाओं में संगठित होकर ये राजकर्मचारियों के शौच या भ्रष्टाचार का पता लगाते थे। संचरा ऐसे गुप्तचर थे जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे। ये अनेक वेशों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर सूचना एकत्रित कर राजाओं तक पहुँचाते थे।

मौर्यकालीन प्रशासन लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा पर आधारित था। यहां

प्रशासनिक व्यवस्था केंद्रीकृत थी परंतु इसे निरंकुश नहीं कहा जा सकता। कौटिल्य ने राज्य के लिये सप्तांग विचारधारा को प्रतिपादित किया था। इन सप्तांगों में कौटिल्य ने राजा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया तथा अन्य सभी को उनके अस्तित्व के लिए राजा पर ही निर्भर बताया। वास्तव में मौर्यों के शासन प्रबन्ध का ज्ञान हमें मेगस्थनीज की 'इंडिका' तथा कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से प्राप्त होता है। मेगस्थनीज की यह पुस्तक उपलब्ध नहीं है, पर रोमन तथा यूनानी लेखकों द्वारा उद्धृत अंशों से हमें चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का विवरण प्राप्त होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो मौर्यों के शासन की मूलभूत प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इन दोनों साधनों के अवलोकन से हमें चन्द्रगुप्त के शासन में उसकी प्रशासनिक व्यवस्था के सम्बन्ध में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में मोर्य कालीन प्रशासन का बहुत अधिक महत्व था।

संदर्भ

1. पणिक्कर, के.एम.,ऑरजिन एण्ड इवोल्यूशन ऑफ किंगशिप इन इण्डिया, स्टेट प्रेस, बडौदा, 1938
2. पाण्डेय, विमलचन्द्र प्राचीन भारत का राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास, सैन्ट्रल बुक डिपो, इलाहबाद, 1975
3. कोसांबी,मीरा, अनसेटलिंग द पास्ट, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत, 2014,
4. पाण्डेय, उदयशंकर प्राचीन भारत की राज्य व्यवस्था (वैदिक एवं स्मृतिकालीन) नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1998
5. सिंह, डॉ. देवेन्द्र कुमार प्राचीन भारत में मंत्रिपरिशद एवं कार्यप्रणाली, कनिष्का पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2004
6. शर्मा, डॉ. सुरेन्द्र मोहन प्राचीन भारतीय चिन्तन में राज्य व समाज, आरबी.ए स. पब्लिशर्स, जयपुर 2012
7. कोसांबी, डी. डी., ऐन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, पॉपुलर बुक डिपो, बंबई, 1956
8. सहाय, शिवस्वरूप प्राचीन भारतीय शासन और विधि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2005
9. विद्यालंकार, सत्यकेतु,प्राचीन भारत की शासन पद्धति व राजशास्त्र, श्री सरस्वती सदन नई दिल्ली, 2004
10. दत्त, रमेश चंद्र, हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन इन एन्सिएंट इंडिया बेस्ड ऑन संस्कृत लिटरेचर,खंड 02, के. एल. मुखोपाध्याय, कोलकाता, 1889,
11. यादव, सुशमा रामावतार शर्मा, भारतीय राज्य, उत्पत्ति एवं विकास, ओंकार पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2000
12. कोसांबी, डी. डी., मिथ ऐंड रियैलिटी, पॉपुलर प्रकाशन, बंबई, 1962,